

यह लेख शुरू करने से पहले मैं एक ऐसा तथ्य सबके सामने रखना चाहती हूँ जो हम सबके बारे में सत्य है : हमें सदा इस बात की चिन्ता लगी रहती है कि दूसरे लोग हमें स्वीकार करते हैं, या नहीं। वास्तव में स्वीकार शब्द थोड़ा कमजोर है— असल में हम प्यार, अतीव प्रेम और प्रशंसा चाहते हैं... और इस सतत एवं प्रबल चाह को अत्यन्त गहरा आघात तब लगता है जब हमें सन्देह होता है या महसूस होता है कि हमारे साथी हमें उस रूप में स्वीकार नहीं करते, जैसे हम हैं, यानी हमारी कमियाँ आदि के साथ।

उसी तरह बच्चों की आन्तरिक ज़िन्दगी को भी काफ़ी कम उम्र से ही इस बात की ज़रूरत होती है कि उन्हें बिना किसी शर्त के स्वीकारा जाए। इस चीज़ को वे सबसे अधिक अपने साथियों से चाहते हैं, लेकिन इसके बावजूद यही साथी ऐसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने के बहुत इच्छुक होते हैं जो समावेशी भी होते हैं और साथ ही साथ अलगाव वाले भी। इसके परिणामस्वरूप हम-और-वे जैसे समूह बन जाते हैं। इन रेखाओं और विभाजनों में काफ़ी बदलाव होता है जिससे बच्चों को जब-तब ऐसा महसूस होता है कि उन्हें अलग कर दिया गया है। वैसे देखा जाए तो एक तरह से यह अच्छा है, यद्यपि इससे उनमें असुरक्षा की भावना भी पैदा होती है। तथापि इसमें अपवाद वह बच्चा होता है जो कक्षा में अलग दिखाई देता है और बहिष्कार का अधिक स्थायी लक्ष्य बन सकता है।

कक्षा में कौन अलग है?

ऐसा कोई भी बच्चा अलग हो सकता है जो कुछ विशेष मानकों, कुछ अपरिभाषित संस्कृति और कुछ अनकहे मानदण्डों के अनुरूप नहीं है। ऐसा बच्चा भी अलग हो सकता है जिसका पठन या अंकगणितीय कौशल कक्षा के स्तर से काफ़ी कम है, या जिस बच्चे को कक्षा के भीतर और बाहर अपने अवधान और व्यवहार को लेकर कठिनाई होती है। यह ऐसा बच्चा भी हो सकता है जिसे किसी भी प्रकार की शारीरिक कठिनाई है, या फिर जो स्टिमिंग (एक दोहराव भरा व्यवहार जिसे ऑटिज़म स्पेक्ट्रम से प्रभावित बच्चे कभी-कभी अपनी स्थिति के प्रबन्धन-तन्त्र के रूप में दर्शाते हैं) में संलग्न हो। कारण जो भी हो, इन स्थितियों में बच्चे दुगुना कष्ट सहते हैं। एक तो वे एक प्राथमिक कठिनाई से जूझ रहे होते हैं और इस बात के प्रति सचेत होते हैं कि अन्य बच्चों को चीज़ें कितनी

आसान लगती हैं। और दूसरा अपने साथियों से स्वीकृति और स्नेह पाने के बजाय उन्हें अस्वीकृति, उपहास और अलगाव का सामना करना पड़ता है। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि ये स्थूल हैं या सूक्ष्म हैं- तकलीफ़ उतनी ही होती है जब उन्हें किसी विशेष नाम से पुकारा जाता है या दबी ज़बान में की गई बातों से उन्हें बहिष्कृत किया जाता है।

माना कि बच्चे इस तरह की प्रतिक्रियाओं पर बहस करने के लिए बहुत छोटे हैं, पर मेरे और मेरे सहयोगियों के लिए यह देखना दिलचस्पी का विषय है कि किस तरह की स्कूली संस्कृति सभी बच्चों के लिए सम्पूर्ण स्वीकरण का कारण बन सकती है, भले ही बच्चे को किसी भी तरह की कठिनाइयाँ क्यों न हों। हम एक ऐसे मॉडल से दूर जाना चाहते हैं जिसमें तथाकथित सामान्य विद्यार्थियों को उन लोगों को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जो अलग हैं। सम्पूर्ण स्वीकरण एक बहुत अलग चीज़ हो सकती है और इस तरह की संस्कृति सभी मानव अनुभव की अनिवार्य सादृश्यताओं पर ज़ोर देती है, यह दर्शाती है कि प्रश्न सम्मान को अर्जित करने या उसके योग्य होने का नहीं है और यह इस गहन धारणा पर भी सवाल उठाती है कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आदतों, यादों और प्रवृत्तियों से कुछ अधिक है।

सादृश्यताएँ

मनोवैज्ञानिक शोध से पता चला है कि शिशुओं में भी उन लोगों को पसन्द करने की प्रवृत्ति होती है जो किसी न किसी तरह से उनके जैसे होते हैं। शोधकर्ता बताते हैं कि एक छोटे बच्चे के साथ दो कठपुतलियाँ रखी गईं जो उसके पसन्दीदा खाद्य पदार्थ को या तो पसन्द करती हैं, या नापसन्द। बच्चा उस कठपुतली के साथ खेलना पसन्द करता है जिसे उसकी पसन्द के खाद्य पदार्थ अच्छे लगते हैं; यही नहीं वह दूसरी कठपुतली को किसी न किसी तरह की सज़ा दिए जाने के पक्ष में भी रहता है! कई शिशुओं के साथ किए गए इस तरह के अध्ययनों ने यह स्थापित किया है कि हम इस तीव्र इच्छा के साथ पैदा हुए हैं कि सारहीन आधारों पर हम-और-वे जैसे विभाजन करें। इस शोध से पता चलता है कि जब कोई भिन्नताओं की बजाय सादृश्यताओं पर ज़ोर देता है तो बच्चों के लिए एक-दूसरे के साथ समानुभूति, स्नेह और भाईचारा महसूस करना आसान होता है।

हमारी सादृश्यताएँ सबसे अधिक स्पष्ट रूप से कहाँ नज़र आती हैं? उन सभी क्षेत्रों में जहाँ अधिकांश स्कूली शिक्षा को ध्यानपूर्वक उनसे बचने के लिए डिज़ाइन किया गया है! सामाजिक सम्पर्क और भावनात्मक अभिव्यक्ति प्रत्येक स्कूल के वातावरण में मौजूद हैं, लेकिन वयस्क शायद ही कभी इन्हें शिक्षा का केन्द्र मानते हैं। क्या हो अगर सामाजिक सम्पर्क और भावनात्मक अभिव्यक्ति शिक्षा के केन्द्र में हों? तब बच्चों के सामने जल्द ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि हर किसी का अपना मूड होता है, उनके पेचीदा रिश्ते, उनकी चुनौतियाँ व सीमाएँ, खेल और मूर्खतापूर्ण चुटकुलों के लिए उनका प्यार आदि होता है।

ऐसा नहीं है कि जिस बच्चे को अधिगम सम्बन्धी कठिनाई हो, उसी को सहानुभूति और मदद की आवश्यकता होती है। इसकी ज़रूरत तो हम सभी को कभी न कभी पड़ती ही है। वास्तव में हमारी भावनाएँ हम सभी को, फिर चाहे वे वयस्क हों या बच्चे, आपस में जोड़ती हैं क्योंकि हम सभी के जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं; हम सभी की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं। और फिर जब कोई स्कूल अकादमिक विषयों से कहीं बढ़कर होता है, तो वहाँ पर ऐसे बच्चे को अलग करने का कोई कारण नहीं होता जिसे विशेष रूप से शिक्षक के आमने-सामने बैठकर पढ़ने की आवश्यकता होती है। कोई दूसरा बच्चा खेल के मैदान में शिक्षक का ध्यान चाहता है तो किसी और को कुम्हारी की कक्षा में अतिरिक्त सहायता की आवश्यकता होती है या फिर किसी को अपने दोपहर का भोजन खत्म करने में मदद की आवश्यकता होती है! इस तरह यह सादृश्यता अपने आप ही स्पष्ट हो जाती है और हमें इस घिसी-पिटी अभिव्यक्ति की ज़रूरत नहीं पड़ती कि ‘हम सभी की अपनी ताकत और कमज़ोरियाँ हैं।’

सम्मान और स्नेह

सौ साल पहले, लेखक मैक्स एहरमन ने डेसिडेरटा लिखी थी जो एक सुन्दर गद्य कविता है, जिसकी एक पंक्ति हमेशा के लिए मेरे दिल में घर कर गई है : *तुम ब्रह्माण्ड के एक शिशु हो, जो पेड़ों और सितारों से कम नहीं है; तुम्हें यहाँ रहने का अधिकार है।* इस सरल कथन में कुछ तो ऐसा है जिसने एक शिक्षक के रूप में मेरी काफ़ी मदद की है। भारतीय समाज पर उत्कृष्ट होने का विचार इस क्रूर हावी है और हम सम्मान और प्रशंसा के हाथों इस तरह से बिक गए हैं कि इन्हें कुछ प्रदर्शनकारी तरीके से अर्जित करना या इसके योग्य होना चाहते हैं।

इसके विपरीत मैं स्कूल की आदर्श संस्कृति का एक चित्र प्रस्तुत करना चाहती हूँ, जिसमें वयस्क अपने आप ही सभी बच्चों को सम्मान और स्नेह देते हों, भले ही वे किसी भी तरह से अलग या भिन्न हों। मैं प्रशंसा या सराहना की बात नहीं

कर रही। *सम्मान* यानी बच्चे की बात को गम्भीरता के साथ सुनना, बच्चे को अपने से कम बुद्धिमान या कम महत्वपूर्ण न समझना आदि। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वयस्क बच्चों से माँग नहीं कर सकते या उनके व्यवहार को चुनौती नहीं दे सकते। क्या ऐसे स्कूल में बच्चे बिना किसी सुविचारित अनुदेशन के संस्कृति को अपना लेंगे? शायद नहीं, लेकिन इससे स्वीकरण का व्यापक वातावरण बनाने में मदद मिलेगी।

यह सब कितना सुखद लगता है! मैं अपने अनुभव से कह सकती हूँ कि यद्यपि स्कूल में वयस्कों के मध्य इस तरह की संस्कृति बनाना सम्भव है, लेकिन बच्चे हमेशा अनुकरण नहीं करते हैं। कभी-कभी अपने किसी साथी को नीचा दिखाकर श्रेष्ठ महसूस करने का मोह बहुत मज़बूत होता है और यह व्यवहार दोहराया जाता है- वही निशाना, वही अपराधी। फिर भी वयस्कों का यह मज़बूत और नियमित सन्देश बड़े महत्त्व का है कि हर कोई ‘ब्रह्माण्ड का शिशु’ है, जिसे एक-दूसरे द्वारा स्वीकार किए जाने के लिए किसी समर्थन या कारण की आवश्यकता नहीं है। ऐसे वातावरण में, अधिगम में कठिनाई महसूस करने वाला बच्चा अपने शिक्षकों के प्यार और सम्मान में सुरक्षित महसूस कर सकता है। हालाँकि बच्चा तब भी साथियों के साथ तुलना के कारण खुद को अधूरा महसूस कर सकता है।

तो फिर इसका समाधान क्या है? तुलना करने की हानिकारक प्रकृति के बारे में विद्यार्थियों और शिक्षकों के साथ हमारी बातचीत नियमित रूप से होती रहती है, जिसमें हम इस बारे में भी चर्चा करते हैं कि हम तब किस तरह प्रभावित होते हैं जब हम खुद की तुलना दूसरों के साथ करते हैं और खुद को हीन या बेहतर महसूस करते हैं। यद्यपि हम जानते हैं कि तुलना निरर्थक है फिर भी हम समय-समय पर ऐसा करते रहते हैं। लेकिन जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते हैं, उन पर इस संस्कृति का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। मेरा मानना है कि वे असलियत में यह नहीं सोचते हैं कि किसी व्यक्ति का मूल्य उस कार्य से मापा जाता है जिसे वे कर सकते हैं, या नहीं कर सकते। एक-दूसरे के साथ उनके रिश्ते स्नेहपूर्ण और जटिल हैं और उनकी योग्यता या अक्षमता का सम्बन्धों के बारे में उनकी भावना से कोई लेना-देना नहीं है।

स्वयं की कहानियाँ बुनना

यह काफ़ी लुभावना होगा कि *सम्पूर्ण स्वीकरण* के साथ आप जो हैं का स्वीकरण भी जोड़ दिया जाए। अर्थात् हम एक व्यक्तिगत प्रकार के स्वीकरण के लिए भी तरसते हैं, जैसे कि वे कहानियाँ जो बताएँ कि हम कौन हैं, हमारी विशेष पसन्द और नापसन्द क्या है : संक्षेप में, हमारे अपने बारे में सब कुछ। लेकिन मुझे लगता है कि मैं जब तक ‘मैं यह हूँ’-वाली तस्वीर

से बँधी रहूंगी तब तक मुझे चोट पहुँचाना आसान रहेगा। हाँ, हो सकता है कि कोई बच्चा 'मैं लिखने में बुरा हूँ' वाली तस्वीर को 'मैं फुटबॉल में अच्छा हूँ' वाली तस्वीर से बदलना चाहे। लेकिन आत्मवर्णन की कोई भी तस्वीर पुआल के उस पुतले जैसी महत्वहीन है जिसे आसानी से गिराया जा सकता है। हम अपने स्कूल में एक प्रयास यह करते हैं कि खुद का वर्णन करने की इसी आवश्यकता पर ध्यान दें, हम कौन हैं और क्या बनना चाहते हैं, इसके बारे में बताएँ। इन कहानियों को बुनने से स्व की एक ऐसी भावना पैदा होती है जिसे अपमानित होने से बचाना चाहिए और प्रशंसा के ज़रिए इसका समर्थन करना चाहिए। माना कि ये भ्रामक चलन है, लेकिन यह हमारी आदत भी तो है कि हम हमेशा जीवन के प्रति ऐसी ही प्रतिक्रिया दिखाते हैं।

हर कोई यह कहता है कि अधिगम की कठिनाइयों वाले बच्चे जिस सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक चुनौती का सामना करते हैं वह है आत्मसम्मान की कमी। जो दुनिया उच्च आत्मसम्मान को महत्व देती है, केवल वही 'निम्न आत्मसम्मान' की समस्या खड़ी करेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अधिगम की कठिनाई होना आज के शैक्षिक परिदृश्य में एक चुनौती है लेकिन इसे समस्या बनाने की आवश्यकता नहीं है। अब इस चुनौती में एक ऐसा व्यक्तित्व जोड़ दें जो मनोवैज्ञानिक आघात के प्रति अतिसंवेदनशील हो। ऐसा करके आप समस्या पैदा कर देते हैं : आप एक ऐसी स्थिति में फँस जाते हैं जहाँ आप सांत्वना देने लगते हैं, झूठी प्रशंसा करने लगते हैं या कुछ ऐसा खोजने लगते हैं जो बच्चे को भावनात्मक रूप से सहारा दे। मुझे याद है कि हमारे एक विद्यार्थी ने स्नातक होने के कई वर्षों बाद यह बात साझा की थी कि जब उसके पढ़ने की प्रशंसा

की जाती थी तो वह बहुत असहज महसूस करता था, क्योंकि उसे पता था कि वह कठिनाई के साथ पढ़ता था, अच्छी तरह से नहीं। उसे महसूस होता था कि उसे संरक्षण दिया जा रहा है, ऐसा उसने हमें बताया। वह कौन-सी तीव्र इच्छा थी, वह कौन-सी ऐसी ज़रूरत थी कि हमने उसकी प्रशंसा की? शायद स्व की एक मज़बूत भावना को बढ़ावा देने की ज़रूरत? जब इस व्यक्तिपन को स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती है तो हर कोई अधिक निश्चिन्त रहता है।

इस विषय पर बहुत-से शोध हो रहे हैं कि हम उन बच्चों के सीखने का समर्थन कैसे कर सकते हैं जिन्हें विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। उम्मीद है कि अगले एक दशक में इसका परिणाम हमारी कक्षाओं में देखने को मिलेगा। मनोवैज्ञानिक पक्ष को सम्बोधित करना उतना ही महत्वपूर्ण होगा जितना कि सभी के मन में उठने वाली अलग होने या भिन्नता की भावनाओं को। हालाँकि परामर्श और थेरेपी हर बच्चे के अधूरेपन की भावनाओं को सम्बोधित कर सकते हैं, लेकिन मुझे लगता है कि इसके प्रभाव कुछ सीमित हैं। क्यों न मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य को कक्षा या विद्यालय में समग्र रूप से निहित चीज के रूप में देखा जाए? यदि लचीलापन किसी एक व्यक्ति का गुण बनने की बजाय वातावरण और समुदाय का गुण बने तो यह अधिक समग्रतात्मक, अधिक सहानुभूतिशील होगा। व्यक्तिगत परामर्श और थेरेपी कितनी भी करवाई जाए, उससे किसी स्कूल की संस्कृति में बदलाव नहीं लाया जा सकता और मेरा मानना है कि हमें यहीं पर अपनी शक्ति लगानी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि इस लेख में मैंने जिन विचारों को रेखांकित किया है, वे सम्पूर्ण स्वीकरण वाली स्कूली संस्कृति बनाने की शिक्षकों की यात्रा में उनकी मदद करेंगे।

¹ For more such fascinating studies, see <https://www.youtube.com/watch?v=FRvVFW851cU>



कमला मुकुन्दा को शिक्षण-कार्य बहुत पसन्द है। वे 1995 से सेंटर फॉर लर्निंग में कार्यरत हैं। उन्होंने दो पुस्तकें लिखी हैं- 'व्हाट डिड यू आस्क एट स्कूल टुडे', पुस्तक 1 और 2 (हार्पर कॉलिन्स), जो अधिगम और विकास के मनोविज्ञान के बारे में हैं। उनकी यह पुस्तक हिन्दी में 'स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?' नाम से उपलब्ध है। इसे एकलव्य ने प्रकाशित किया है। उनसे kamala.mukunda@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल